कुछ शब्द जैसे मेज़



वाग्देवी प्रकाशन
बीकानेर

कुछ शब्द जैसे मेज़

संजीव मिश्र



प्रकाशक
वाग्देवी प्रकाशन
सुगन निवास, चन्दन सागर
बीकानेर-334 001



राजस्थान साहित्य अकादमी, उदयपुर
के आर्थिक सहयोग से प्रकाशित

संस्करण : 1992
मूल्य : सत्तर रुपये मात्र
आवरण आकल्पन : आरती साहू
मुद्रक : सांखला प्रिण्टर्स
चन्दन सागर, बीकानेर

ISBN 81-85127-34-4

KUCHHA SABDA JAISE MAZE (Poetry)
by Sanjeeva Mishra

Rs. 70 00

अनुक्रम

चुपचाप भीगता शहर

सहसा ठिठक कर

रेत में लहरें

क्यों मुझमें

जल से जन्म कर
तुमने सृष्टि की
जिसमें मैं था
और थी रेत।

रेत की तरह
तुम्हारे सम्मुख
मैं जब-जब बिखरा,
मेरे अंदर
उमगते जल में
जन्म कर

हे सृष्टा
तुमने क्यों हर बार
मुझमें
फिर रेत को ही रचा ?

बनाना

'ऐसा बनाऊंगा !'
ठानता हूँ ।
बनाता हूँ
बनाकर देखता हूँ
        कहता हूँ—
'नहीं ये नहीं,
ये, ऐसा'
        फिर से बनाता हूँ

वह सब
जिसे पूरा जानता हूँ
        जिसे हर बार
रच कर
और भी नया
पहचानता हूँ ।

जयपुर 2 3.89

देहरी पर

भीतर पानी भरूँ
कि बाहर धूप बटोरूँ
यही सोचते बीत गया
खाली दिन
देहरी पर बैठे।

भीतर पानी, बूंद-बूंद में
तृप्ति बसी थी,
बाहर किरणें जिनका
कण-कण
निजको करके दीप्त
अमर करता था मन को।

प्यास बुझाना है या मन को
अमर बनाना
यह तय करते
बीत गया खाली दिन
देहरी पर बैठे।

जयपुर 7.10.87

रचना

स्वयं डूबकर
वह जाने से
बचती,

नदी
देखती धारा
अपनी,
रचती है फिर
अपने को
लहरों में।

जयपुर 9.3.87

पहाड़ से...

'ऐसे ही खड़े रहना'
मैंने जाते समय
पहाड़ से कहा।
'कल शायद कोई और आए'

पिटे हारे कई बरसों के बाद
मैं लौटा
पहाड़ के पास।
उसे देखा।
और मुड़ा दोबारा जाने के लिए।

'अभी और लड़ना बाकी है मुझे'
मैंने जाते समय
पहाड़ से कहा
'लेकिन तुम यूं ही
खड़े रहना
कल शायद
मैं ही फिर लौटकर आऊंगा'

जयपुर 3 2.87

बसंत

सबको बाहर निकाला
जगाया
बसंत ने
पौधो से फूलों को,
जमीन से सांपों को,
घोंसलों से चिड़ियों को
धूप से आंच को
नहीं जगा तो केवल वह
जिसे पिछले बसंत के
बीच ही में
दफनाया गया था।

जयपुर 24 6 86

आंधी-एक

रेत से भरा
हवा का झोंका
जब क्षितिज के कंधे के
इर्द गिर्द
सीधे पल्ले सा
सिमट आए

तब जान लेना चाहिए
कि आंधी
आने वाली है।

आंधी-दो

आसमान तक उठते
रेत के बादल

जमीन की बेचैनी की
टूटती सीमा है

या

पहाड़ को
शहर की नजरों से
बचाने की
एक कोशिश ।

आँधी-तीन

झील सी आँखें
रेत की आँधी को
आँख भर देखकर
जान गई

कि क्यों
किसी की आँखों में
एक बार
रेगिस्तान उभर आया था ।

आंधी-चार

आंधी ने दिए
जितने भी दर्द
सब के सब
रेत की गलती

हवा
नहीं होती है गलत

हवा
कभी भी
आंखों में नहीं गड़ती ।

हरियाली

शहर के
तमाम बेहूदा शोर
के बीच
टूटी सड़क पर भरे
कीचड़ से गुजरती
बस के धुएँ से घिरे टायर
से कुछ दूर ही,
बरसात के बाद
उगी मुलायम घास
धूप निकलने पर
झिलमिलाती
एकदम हरी,
चुपचाप।

जयपुर 5.8.86

रुका हुआ पानी

रुके हुए पानी पर
होती है तेज हवा में
बरसात।
बरसती बूंदें, हवा में तैरती-सी
गिरती हैं पानी में
लहरें उठाती हुई।

रुके हुए पानी पर
बहती है बरसात
और लगता है लहरों को देखकर
रुका हुआ पानी भी
बहता-सा

जब तक बरसात होती है
केवल तब तक।

जयपुर 16 8 86

लहरों पर हवा

उमड़ती लहरों को
छूती है हवा
अतल गहराइयों तक
तरंगित करती,
सजल हो
भीगती है
हवा
जल पर
घनी हँसी।

जयपुर 16 4.86

पहला परिचय

अंजुरी में भरा
ताजा पिसा
सौंधा और गर्म आटा

एक सुन्दर
पहले परिचय सा ।

बदलाव

वादल
आसमान का एक
रंग है।
सूरज
एक ढंग है
जिससे होते है
बाकी के सारे रंग।

मुझको क्या हुआ
यह पूछने से पहले
जरा देख लो

कहीं वदले हुए तो
नहीं नजर आ रहे
आसमान के रंग-ढंग

जाता हुआ सूरज

रोज ही आता है
पुराना परिचित
जाता हुआ सूरज ।

जाते हुए सूरज के
आते ही
कुछ लोग
मेरे दोस्तों में बदल जाते है ।

फिर हम ध्यान नही दे पाते
कि सूरज कब
चुपचाप चला गया ।

मुरचंग

स्मृति
मन में
व्याकुल मुरचंग सी
लगातार बजती
बेचैन।

जयपुर 17.10.85

अपने अन्दर

गहरी घाटियों में
मजबूरी है हवा के झोंकों की
पहाड़ों से टकरा कर
खत्म हो जाना
चाहे उनमें महक बसी हो
रातरानी के फूलों की
या जंगल के भस्म होने का धुआँ
सुबह जब सूरज
झाँकता है घाटी में
तब वहाँ न धुआँ होता है
न महक
लेकिन सूरज के लिए
कोई फर्क नहीं होता
पानी की झील
या
जंगल की राख में

बस इतना

चिता से उठी
प्रखर
प्रभामय
आकाश की ओर लपकी
लपट सा
जीवन,
धुली धूप में
थमी हवा की
शीतलता सी
मौत,
और
अपने होने का बोध
मिले
बस इतना ही।

जयपुर 16.7.85

सूखना

सूखने से पहले
अपने शब्दों में रच लिया था
उस नदी को मैंने।
तपती रेत पर खड़े होकर
जब बरसों बाद
उन्ही शब्दों को तलाशा
तो पाया
कि वही से थी शुरूआत
नदी के सूखने की।

जयपुर 6.10 85

कथा

गहरा रही थी रेत
सूखी नदी में
तपते क्षणों पर
बह रही थी प्यास।

केवल किनारे की
कटी मिट्टी
कह रही थी कथा
उस जलधार की
जो कभी बहती थी।

जयपुर 1.6.85

पुल के नीचे...

पुल के नीचे
नदी रुक गई
दूर कही के
सूखे तट पर
बंधी नाव के
सपने लेते
कुछ लम्हों में
जल के भीतर
कोई पूरी सदी रुक गई।

जयपुर 20 2 85

पीछे मुड़कर

ठिठुरती, सूनी, हिम से ढकी
घाटी में
चलते-चलते, ठिठक कर
उसने पीछे मुड़ कर देखा
बहुत दूर तक बर्फ़ में बने
अपने पदचिह्नों को
और सोचा कि
'मिट जाएँगे जल्दी ही ये
लेकिन, ख़ैर !
अब
मैं मर सकता हूँ ।'

जयपुर 16.2.85

प्रार्थना-दो

अंकुराए हुए खेत,
और छोर नीला आसमान,
साफ़ मीठा पानी,
प्रेम भरा आलिगन,
निर्मल खुलकर हंसना,
भरे चमकते तारे,
उड़ती चंचल चिड़िया,
घना महकता जंगल,
छोटे छोटे अचरज,
प्यारे प्यारे सपने,
फूलों से लदे पेड़,
मन को छूता संगीत,
रहस्यों को स्वीकारती आस्था,
पल भर का चैन
मिलें,
न मिलें,
लेकिन बने रहें
        मन में,
याद रखने के लिए
इन्हें तो न लिखना पड़े।

जयपुर 8.1.85

संबंध-एक

ऐंठी हुई लकड़ी के
दरवाजे पर लगी
टेढ़ी सिटकनी को
मुश्किल से बंद करने के बाद
कमरे में
बरसों से अकेले रहने वाले
आदमी से मैंने पूछा—
'तुम क्या समझते हो
रिश्तों के बारे में ?'

नींद से उठकर
वह बाहर चला गया ।

ऐंठी हुई लकड़ी के
दरवाजे पर लगी
टेढ़ी सिटकनी को
खोलने के लिए काफी थी
उसकी उंगलियों की
एक स्वाभाविक हरकत ।

संबंध-दो

मित्र ने
बरसों पुरानी अपनी
प्रिय कलम
भेंट कर दी मुझे
स्मृति चिह्न स्वरुप

कविता की कुछ पंक्तियां
लिख कर टूट गई
उसकी निब ।

अपने मित्र की उंगलियों से
पूछना चाहता हूँ—
'क्या निब से पहले भी
कुछ टूट चुका था ?'

चातक

मौन प्यासे
अनमने चातक !
तुम्हें
जल की तृषा है
या
किसी नक्षत्र की ?

जयपुर 10.12.84

ताल

चपल
ताल के अंतराल का
स्वर संयोजन
गत
    आगत की
    जाने कितनी
    सदियों के संचित
    अनुभव को
    (मन के भीतर)
    छेड़ रहा है।

जयपुर 11.12.84

पहचान

पहचान में
रंग होते हैं शामिल
परछाईं नहीं।

लेकिन जो धूप
रंगों को उगाती है
उसी उतने हिस्से की होती है
जितना
परछाईं होता है।

बातें

आसमां के
बाएं हिस्से में
लटक
आया
गुलाबी
चांद
आधा
बहुत
       नीचे

रात की शुरूआत की बातें
कई ऐसी
जिन्हें कहना सरल है
पर बता पाना
बहुत मुश्किल।

चाय की मेज पर

एक समतल पर खड़े
आयाम थामे तीसरा
दो चाय के प्याले
भरे ।

एक बोतल
तीसरा ज्यों बिंदु
रेखा का ।

पास में
कुछ खुला
सुन्दर सा
बनाते कोण
दो
गिलास
शीशे के बने ।
आँख मे ठहरी हुई मुस्कान जैसे पारदर्शी
कुछ दूर
रक्खी प्लेट
के नीचे दबा कागज
जिसे इतिहास के
सब सत्य
हों मालूम
वैसा
मौन ।

अंत

सीमित हैं हम
दिक्काल में बँधे है
दिक्काल
        अपने में
        अनंत है ।
जो अनंत है
वे ही
        हमारे अंत है ।

जयपुर *4.8.84*

सारथि

कभी जाना ही नहीं
कि क्या इशारा है
मेरे सारथि का ।
जाता रहा रथ
घोर युद्ध के बीच
अज्ञान से बंधा
मैं बिंधता रहा
क्लांत व्याकुल
हारता हुआ
महायुद्ध में
जिसका मैं नायक था ।
सारथि !
तुम सब जानते थे
लेकिन मैं ही अभागा
प्रश्न नहीं कर पाया ।

जयपुर 5 5.84

सलीब से !

पास ही
दूसरे सलीब पर टंगा
मसीहा
तुम पर भी
विधा हो सकता था।

लेकिन यूं काठ मत हो
जिस घृणित अपराधी को
ढोना तुम्हारी
अपवित्र नियति हो गई है
उसके पाप
चाहे अक्षम्य हों
लेकिन उसकी पीड़ा
अगर तुम्हें नहीं दिखी
तो और तो कोई भी
उसे नही देखेगा।
वह
मसीहा जो नही है

जयपुर 9.7.84

रेत में लहरें

रेत में लहरें
वहुत सुदर
रखी स्थिर
थमी

जैसे
रुका कोई
अचानक याद आया क्षण
समंदर का ।
कि, जैसे
हवाओं के गीत की
लय
रच रही धरती
मनोहर नृत्य में अपने

खोया हुआ जंगल

खिड़की के बाहर जंगल था
खिड़की पर चिड़िया बैठी थी
मैंने यह पूछा चिड़िया से
'चिड़िया-चिड़िया, कितना जंगल ?'

चिड़िया ने तब आँख नचाई
चिड़िया ने तब पंख फुलाए
मेरी तरफ़ देखकर चिड़िया
चली गई उड़कर चुपचाप।

खड़ा-खड़ा मैं रहा पूछता
'चिड़िया-चिड़िया, कितना जंगल ?'
तब वे आए और बंद की
खिड़की मेरी हँसकर बोले—
'छोड़ो भी बचकानी बातें
कैसी चिड़िया ? कैसा जंगल ?'

गूंज

घने वन में
गूंजती है सब जगह
आवाज
झरने की ।

झरना
जो सब जगह से
दूर है
वन के
एकदम भीतर कहीं ।

झरने को ढूंढ़ता
गूंज के पीछे जो
घनेपन में
पैठता जा रहा है

बहुत नीरव मौन है
वह भेंटने को
गरजते जल से
अकेले में ।

जड़ें

ऊपर
उठता
बढ़ता-घना होता फैलता
छाता रहा
वह वृक्ष

नीचे
जड़ें उसकी
रही गहराती
अंधेरे में
बहुत मजबूत होती

वृक्ष
उतना अधिक
आकाश का होता रहा

जितना
जमीन से संबंध
चुपचाप
गहराता रहा
पकता रहा।

कवच

(तोड़कर भीतर जाने की
इच्छा मन में लिए हुए
अगर
आप उसके बाहर न हों।)

दुनिया की सबसे
सुखद और
सुन्दर चीज होता है
कवच।

गलती

किया जा सकता है
        भरोसा ।
एक बड़े
        भारी
सड़क के बीच में
        घरघराते
        खड़े
रोड रोलर पर भी
        कभी भी
जब आदमी भी बैठा हो
        अंदर उसके
        तब नहीं ।

वसंत की शामें

कोई विकल्प नहीं है
तुम्हारे
अपनेपन से भरे
स्पर्श का ।

लेकिन
खुले में धीमी हवा को
छूते हुए
बीत ही जाती है
वसंत की शामें ।

शक्ल

जूते की एड़ी से
दुनिया को बजाते हुए
भीड़ में घुसने वाले
आदमी की शक्ल
खत्म हो चुकी होती है।

और अगर
यह बात उसे पता चल जाए
तो वह ज्यादा जोर से
पांव पटकता हुआ चलेगा

संगीत

हाथ
एक चेहरा
अगर संगीत है
    बहुत सी मेहराबों के पार
    टंगे फानूस से झरती हुई
    धीमी रोशनी ।

कई बरस लंबी याद से गहरे
शीशम के
एक खूबसूरत फ्रेम में
बंधे जैसे
अनुभव
साकार ।

समय के कैनवस पर
मुकम्मल
टंगा
भारी रंग ।

उंगलियां
फिर कांप उठती हैं
सिराने मौन की ।

दो पेड़

दो बहुत गहरे दोस्तों की तरह
आमने सामने खड़े थे दो पेड़
एक पत्तियों से भरा-पूरा पीपल
जो हवाओं के छू जाने पर
पत्तियों की बेचैनी को चारों तरफ़
भरपूर गुंजा रहा था—लेकिन
अलग नहीं करने दे रहा था
हवाओं को, अपनी
हरियाली का एक भी हिस्सा
दूसरा एक पीला पड़ता गुलमोहर
जिसकी हर पत्ती हवा के
मामूली से स्पर्श के लिए भी
पूरा समर्पण थी ।
मैं पीपल की छाँव में बैठकर
देखता रहा था चुपचाप
चुपचाप झरते हुए
गुलमोहर को ।

वहाँ वह
शांत पानी में पड़ा है
भीगता
तो
रूखता क्यों है मुझे ?

यह जानकर भी
है कि वह पत्थर
महज
जो पड़ा पानी में
जहाँ शायद
सही उसकी जगह है
उंगलियाँ
अकुला रही स्पर्श को
क्यों ?

मैं सही हूँ ?

या सही है जल ?

कि
पत्थर ?

बहुत दूर

उस जगह से
बहुत दूर
उन क्षणों के
बहुत बाद

लेकिन
बीच में
उसी रुके हुए
समय के

डोलते हैं
पीपल के पत्ते
सुनहरे पंख
और
कुछ अनकहे शब्द।

मंदिर

देवता की
मूर्ति के सम्मुख
खड़ा कोई
अकेला रह गया है।

छूट औचक गए हैं
संबंध सारे
संगमरमर के किसी
बुत से फिसलकर
आवरण
ज्यों गिर पड़ा हो।

सामने
वरगद पुराना
स्वस्ति साधे
चुप खड़ा है
ध्यान में
डूबा हुआ सा।

पत्तियों के बीच
चिड़ियाँ सुन रही
घुलते हवा में
घंटियों के स्वर
कि जैसे याद
रह रह कर किसी की
आ रही हो।

पूछेगा कौन

धुआँ लपेटे
जंगल चुप है
  कोहरा ओढ़े
  पर्वत मौन
घुट-घुट कर
मरती चिड़िया की
  खोज खबर
  पूछेगा कौन

पेड़ के भीतर

चिड़िया ने
उड़ कर
पहाड़ का चक्कर काटा
हवा में गोता लगाते हुए
पानी को छुआ
फूलों में इधर-उधर
कुछ टटोला
और वापस पेड़ में आ गई

पेड़ में आ गए
ऊंचे पर्वत
झील के बिम्ब
और कई एक रंग

वह सब कुछ
जो चिड़िया के भीतर
फैल बिखर जाता
पेड़ में सिमटता रहा।

और एक दिन जब
पेड़
पेड़ ही नहीं रह गया
चिड़िया
वहाँ से उड़ गई ।

उसे एक पेड़ चाहिए था
जो महज
एक पेड़ ही हो ।

रणथंभौर-एक

'देखिए
चौहान राजाओं का यह किला
सुरंगें, जटिल गुप्त रास्ते,
कमरों के बीच छुपे हुए कमरे
तीन-तीन मंजिल के
गहरे तहखाने,
मजबूत दीवारें—दीवारों में रास्ते
मोखे-झरोखे,
ये सब बताते हैं कि
कितने वैभवशाली, कितने समर्थ थे
चौहान राजागण ।
कितना था उन्नत उनका शिल्प
उनकी निर्माण कला !'

—'लेकिन चौहान राजागण
कितने भयभीत थे !'

रणथंभौर-दो

विशाल वटवृक्ष को देखकर
पहले सब ठिठके-से, निहारते रहे
उसे, फिर उसकी ओर बढ़े
सैकड़ों तनों, शाखाओं, जटाओं के
भीतर सब धंसे

एक, अनुमान लगाने लगा
तने की मोटाई देख
वृक्ष की आयु का,

दूसरा जा चढा एक
तने-सी मोटी शाख पर
और फिर एक जटा पर झूल गया
जैसे टारजन झूलता है।

कोई ताकता हुआ
दूर-दूर तक फैली शाखाओं के
जाल को सोचता रहा
'अब उमर नहीं रही
गुलाम लकड़ी खेलने की, नहीं तो
परफेक्ट जगह है ये पेड़

गुलाम लकड़ी के लिए
ओलंपिक में शामिल करें तो
एकदम ओलंपिक स्तर का'
कोई जाकर लेट रहा
एक नीची डाल पर चुपचाप
पत्तों के बीच आसमान के
बिखरे नीलेपन को निहारता
मन में कोशिश करता
'रोमांचित' 'अभिभूत' होने की
सोचता कुछ शब्द— 'वृक्ष,
विशाल, मौन, ले मुझको, तात,
महाच्छाय, संसृति,
कितना—अति प्राचीन—निरंतर,'
आदि-आदि ।

एक ने सोचा—'कितना बड़ा
जटिल, जैसे सचिवालय की
इमारत'

एक पहुँचा बीच में तने की
मोटाई देख, डरा सा
खड़ा रहा, कुछ सोचा नहीं
उसने, देखा कुछ सिंदूर के
निशानों को, कलावे की डोरियों को
प्रणाम कर बैठा सहज ही ।

यही सब होता रहा फिर
टूरिस्ट गाइड की आवाज आई

'चलिए, साहब । चाय तैयार है ।
फिर आगे भी चलना है ।'

सब वृक्ष को छोड़कर चल पड़े
चाय की ओर फिर आगे
जाना था,
एक दिन की छुट्टी थी फकत
देखना था कितना कुछ
बरगद खड़ा था
बहुत बड़ा, सौ साल से भी पुराना, वहीं
उसकी आयु में जुड़ा
एक और दिन ।

जयपुर 16.8 86

रणथंभौर-तीन

पर्वत घाटी
जंगल की कमली से
ढके हुए—
को सहलाती है
धीमे-धीमे
बादल की परछाईं।

जयपुर 16.8.86

रणथंभोर-चार

किसी योद्धा की समाधि
यह छतरी
यहा अकेली, वन में
टूटी-फूटी खड़ी हुई है ।

शिलालेख इस पर घिस गया
हवा-पानी से ।

लेकिन वह अनजाना जोधा
बीहड़ वन की नीरव दोपहरी में
सम्मुख खड़ा हुआ सा ।
उसके खांडे की धार
कौंध जाती है मन में ।
वन वन जाता युद्ध भूमि
वह मरा नहीं अब तक ।
इसमें मौजूद अभी तक है
उसकी सांसों की गरमी ।
जनम सकारथ था उसका
वह
मरा नहीं है ।

जयपुर 17.8 86

रणथंभौर-पाँच

जंगल के भीतर सूने में
घने पेड़ थे, घनी झाड़ियाँ
ऊँची-ऊँची घास
बीच में छिपा खंडहर
टूटा-फूटा
नौ सौ बरस पुराना मुझको
आमंत्रण था।

'यहाँ हुआ करता था
अंतःपुर' सुनकर
रुक गए कदम
देहरी पर, अपने आप
न जाने किसने रोका
शायद
नौ सौ बरस पुराने
कुछ क्षण
अब तक बीत रहे है
मेरे भीतर।

जयपुर 17.8.86

रणथंभौर-छः

वीहड में सेनाओं ने पड़ाव डाला था
वनवाए थे पूजा-स्थल, कुछ इमारतें
घेर लिया था अजय दुर्ग को।
पास पहाड़ी पर
छोटी सी गुफा
गुफा में छुपा रहा
कोई वन पशु चुपचाप
रात के इंतजार में।

बीते नौ सौ वरस
दुर्ग अव सैलानी का कौतुक भर है
जीर्ण-शीर्ण।
जंगल में दूर अजाने खंडहरों में
घूम रही है गोह चपल
निर्द्वन्द्व
गुफा में अंधियारा है

शायद कोई
वन पशु अंदर हो अव भी
चुपचाप
रात के इंतजार में।

जयपुर 17 8 86

रणथंभौर-सात

अचानक हो
पाँव तले कीचड
अनजाने सामने
इक खंडहर पुराना-प्राचीन
ना जाने कब कोई
कांटा धंस जाए,
कोई पक्षी चीखे झाड़ी से
और उड़े चौंकाता
सन्नाटा वेधता।
क्या होगा
अनजाने इस वन की
पगडंडी पर
चार कदम आगे
कुछ पता नहीं।
जितना भी चलें—चलें
उतनी ही बढ़ती है
उत्कंठा,
बढ़ता है भय,
साहस,
जीवन।

जयपुर *17.8.86*

रणथंभोर-आठ

ऊँची-ऊँची हरी घास में
छिप जाती जब-तब
सूनी पगडंडी
जंगल में।

हरी घास के बीच उगा
बस एक फूल
नीला-सा।

बाग-बगीचों में देखा था उसको
कितना ही
क्यारी भर-भर के
लेकिन पहली बार अचानक
दिखी फूल की
सुन्दरता
नीरव, सूनी उस
दोपहरी में।

जयपुर 17 8 86

रणथंभौर-नौ

अजय दुर्ग पर्वत पर
चारों ओर घना वन
वन में छुपी न जाने कितनी
छोटी-छोटी झीलें,
कितने वन पशु
खोह-कंदराएं, खंडहर
दुर्ग में सदियों का इतिहास
जागता, गाथाओं में
अवशेषों में।

शताब्दियों में हुए बीसियों युद्ध
कौंध जाते हैं जब-तब
आंखों के सम्मुख
गत, आगत, वर्तमान,
सौंदर्य प्रकृति का, भय, रहस्य,
होना अपना,

सब एक ताल में बंधे यहां पर
एक महल के तहखाने के
घोर अँधेरे में
काले पत्थर का शिवलिंग
अति-प्राचीन, विशाल
सभी के बीच
जागता,
सबको बाँधे हुए यहीं से
आपस में लय करता।
यह विश्वास उमड़ता।

अंधियारे तहखाने में
शिवलिंग के सम्मुख
कुछ क्षण
परे काल के
सब कुछ शून्य।
मगर—अपने होने से
मुक्त—
पूर्ण
अनहद की लय में।

जयपुर 18.8 86

रणथंभौर-दस

चिड़ियाघर में नहीं,
देखने बाघ गए इस बार
ठेठ जंगल के भीतर
मन में दहक रही थी 'किन्हीं
अमर हाथों की
हिंसक रचना।
अंधियारे के जंगल में
चुपचाप चमकती'

दूर—दूर तक
ढूढ़ रही थीं आँखें उसको
तभी दिखा वह।

सबकी सांसें थमीं
कांपते हाथों ने—दूरबीन,
कैमरे उठा लिए

पर वाघ नही वह कोई
पुराना ठूंठ खड़ा था
झाड़ी में—पत्तों से छनकर
आई धूप ने काली पीली
रची धारियां थी उस पर
खिसियाए सव, हंसे
वढ़े आगे फिर
उत्सुक-शायद अवकी वार
दिखे सचमुच—आगे चल

चमक रहे थे
तीखे पंजे
जलती आँखें
सवके मन में।

जयपुर 18.8 86

रणथंभौर-ग्यारह

पहले थे चौहान
फिर आए सुल्तान
उनके बाद राजपूत
उनके बाद अंग्रेज
अब....

कितने ही राजवंश
आए-गए भुलाए
कीर्ति पताकाएँ फहरीं
फिर उतर गईं।
रचे गए सैंकड़ों यशगान
सभी खो गए राजा के साथ

मगर मंदिर के द्वार पर
पत्थर की किन्नरी

सदियों से वैसी ही मोहक
है नाच रही
जैसी थी
शिल्पी के सपनों में
सदियों पहले।

जयपुर 18 8.86

चुपचाप भीगता शहर



तुम लौटना

जब तुम्हारे कानों में
रेतीली आँधियों की गूंज
उतर रही होगी
एक शहर
चुपचाप भीगता रहेगा
तुम्हारे इंतजार में
तुम्हारा लौटना
शहर के
उदास भीगते रहने को
उस बरसात में बदल देगा
जो जन्म जन्मान्तरों से
शहर के भीतर
एक नई कोंपल
हर बार
जब तक खिला देती है।
न जाने कितनी
अनखिली कोंपलें
तुम्हारे होठों के
चिर प्रतीक्षित स्पर्श की
स्मृति में
देखो, अब तक
अनखिली है।
भीगते हुए शहर के भीतर
तुम लौटना
और उन्हें जगा देना
धीमे से।

तुम्हारे साथ-एक

काल की नीरव नदी
वह क्षण
हुआ गहरा
जहाँ
तुम साथ थी।

तुम्हारे साथ-दो

अचानक खिल उठा
बन गया क्षण
उत्सव
तुम्हारे साथ।

मौन

सभी आयाम
मेरी अस्मिता के
बन गए
इक मौन उद्बोधन
तुम्हारा समय
मेरे पास
जब ठहरा।

दुर्गम घाटी

इनमें झाँकते हुए
उतरा हूँ
दुर्गम रास्तों से
किसी
अंधेरी घाटी में।

झील सी तो नहीं
लेकिन
गहरी है
तुम्हारी आँखें।

गंध

झिलमिलाते
नखत मण्डल के तले
एकान्त नीरव को
उमगती मोगरे की गन्ध
यूँ महका गई

रात में चुपचाप ढलती
फागुनी तिथि
थमी

बनने लगी फिर
रूपक
तुम्हारी खिलखिलाहट का।

नियति

खोलते हुए अनेक
दरवाजों को,
लांघ कर
देहरियाँ अनेक
पहुँचा उसके समक्ष
जो थी प्रतीक्षा में डूबी

लेकिन, बंद
दरवाजे सी

खोलना जिसको
नही थी नियति मेरी

या,
नहीं था मैं जिसे
थी लांघनी ये देहरियां ?

सपना

लंबे इंतजार के बाद
बरसे पानी में
भीगी थी तुम।

(उमड़ता रहा था
मैं भी बरसों तक
बरसा नहीं था पर।

छू नही पाया तुम्हें
बरसते जल सा।)

भीगते हुए देखता रहा मैं
सपना, बरसने का
कि मुझमें भीगती तुम
खिल रही हो।

जयपुर 6 8 87

एक साँस

पलकों पर
कोहरे का
ठंडा स्पर्श

जमी हुई हथेली

और
काँपते होठ ।

तब जाना
कि कितनी अच्छी होती है
एक सांस की
गरमाहट

धूप और मेरे बीच

कमरे में खिड़की नहीं थी
और मैंने सुना था
कि धूप चमकदार है।

बल्ब की रोशनी
धूल में दबती रही
और मैं
आइने और अपने बीच
धूप के सपने
बुनता रहा।

धूप की हर खबर
सीलन और ठंडक में
एक गुनगुना शब्द
उकेरती रही।

पहाड़ धूप में नहा गया
और घाटी में पसरी झील
अंधेरे में डूबी रही
तब मेरे दोस्तों ने

मुझसे पूछा
कि मैं परेशान क्यों हूँ।

कटघरे में खड़े
अपराधी सा
मुझे अपने बीच में पाकर
धूप की इमारतें
मेरे अंधेरे में उतरने लगी
और मुझसे पूछा—
'क्यों ?'
मुझे नहीं मालूम
कि धूप और अंधेरे को
मथते हुए
मैं तुम्हारा नाम
क्यों नहीं बता पाया।

मालूम है तुम्हें
कि साफ, खिली और चमकदार
धूप भी
कभी धोखा होती है ?

तीन तरह से

पहला घूंट
प्यास का हिस्सा है।

दूसरा घूंट
पानी और प्यास के
रचते हुए रिश्ते की
पहचान है।

तीसरा घूंट
प्यास को बुझाता हुआ
पानी है।

यों
मैं तुम्हें
तीन तरह से
जानता हूँ।

लय होते हुए

राग उमगती की
लहराती गमक
सुरों का
द्वंद्व रहित भटकाव
जिसे वह थाप
पखावज की
थामे
लय में
लयकारी लय करती अस्तित्व
गूँजती
तुम जैसे
मेरे होने के लक्ष्यहीन
साधन सारे
देती संवार
अपने होने भर से केवल ।

मुझको लय
अपने में करती ।
मैं एक सिहरता स्वर
गिरते
गिरते

फिर
तुम्हे प्राप्त हो
सहज
राग में खिल जाता हूँ

कितनी तरह पहाड़

जब मैं
न तुमसे ऊँचा
और
न तुमसे नीचा होता हूँ
तब
हम दोनों
पहाड़ होते है।

पहाड़ पर

जमीन का
संकोच है पहाड़

पहाड़ पर
उस विराट संकोच के सम्मुख
नहीं होता
कोई संकोच मुझमें

लेकिन शिखर से
सूनी घाटी में
एक पत्थर
उछालते-उछालते
　　　　क्यों उभरा अचानक
　　　　यह संकोच
　　　　तुम्हारे हाथों में ?

देखा सूरज को

देखा
सूरज को उगते
तुम्हारे चेहरे पर
सृष्टि को होते
प्रतिपल
और अधिक आलोकित

स्वस्तिभाव के
साम निबद्ध
किसी पावन श्लोक सा
उमड़ा
गूंज उठा मन।

मेरे कमरे के
बाहर ही रही थी जो
आस्था
हर किरण के साथ
निर्बाध
भीतर उतरती चली आई।

मैं
सम्मोहित, मुग्ध, समर्पित
खुलता रहा चुपचाप
अपने भीतर
होता रहा
निश्शंक।

देखता हुआ
सूरज को उगते
तुम्हारे चेहरे पर।

यात्रा

अपनी पुरानी तकिया के बिना
किसी नए अजनबी बिस्तर में
सोने की कोशिश सा लगता है
शहर में तुम्हारे बिना दिन बिताना ।

इन्ही सड़को पर बहुत दिनों तक छवाए थे
तुम्हारे सपने ।
घूमता हूँ उन्हें सहेजता हुआ
कि अब तुम लौटने वाली हो, जल्दी ही ।

मैं बताऊंगा तुम्हे कि तुम्हारे पीछे से
पानी बरसा था शहर में
और मै तुम्हारे बारे मे सोचते हुए
इस बार भी भीगता रहा था।

पूछूंगा तुमसे कि कैसी रही तुम्हारी यात्रा
बताऊँगा उस यात्रा के बारे में
जिसकी लॉग बुक में वही एक शब्द
बार-बार दर्ज होता गया है—तुम्हारा नाम ।
उस पर दस्तखत भी मेरे नहीं है—
उस यात्रा के मुझ इकलौते यात्री के ।

मेरे नाम तो एक
इम्तहान भर है, बुनियादी गणित का
जिसमें हर जगह सही हल पर
निशान लगाते जाना है।

और सारे असली हिसाब
जहाँ जोड़े-घटाए हैं
वह 'रफ शीट'—तुम हो
जिसे मैं तह कर जेब में रख लेता हूँ।

जयपुर 6.8.87

बादल के बहाने

देखो
बादल को।

जो
आसमान में
एक रंग है।

एक ढंग है
तैरने का
हवा की
लहरों में।

शहरों में
अक्सर बादल
केवल एक ख्याल
होता है।

सोता है
बच्चा, नींद में
बादल को
सहलाता है।

नहलाता है
बादल दिन भर
पहाड़ों को
पानी से।

कहानी से
निकलकर
बादल जाता है
सपनों तक
अपनों तक
पहुँचाता है बादल
संदेशे।

अंदेशे
कम नहीं है
बादल को
धूप से।

रूप से
जिसके पिघलता
वह डोलता है
गुमसुम।

तुम
इस तरह
कविता में आती हो
बादल के बहाने।

वहुत दिन के वाद

आँख
जैसे तार पर
लटकी हुई
इक
बूंद ।
झिलमिल
एकटक-ठहरी ।
वहुत दिन के वाद
धड़कन तेज
दिल की ।

उस दृश्य में

उस ध्यान में से
बचाकर एक निमिष
तुमने कहा मुझसे—
'आओ, यहाँ आकर देखो तो'

मैंने देखा
दूर तक फैला
शांत, स्थिर, समयातीत सा
वह दृश्य
जिसमें मग्न थी तुम ।

मैं भी घिर गया था
डूबता उस दृश्य में
लेकिन

तुम्हारे और मेरे
उस मुग्ध दर्शन में
यह भिन्नता थी ।

कि तुम
तोड़कर सीमाएँ स्वयं की
अनंत तक फैले लगते से
उस दृश्य के आखिरी
छोर तक मैं
स्वयं को खोती जा रही थी।

और मैं
उस दृश्य के हर हिस्से में
तुम्हें ढूंढ़ता हुआ
भटक रहा था।

देखना तुमको

तुम्हारी आँख में
छवि रच रही जैसी
उसे भी जानना
शामिल
तुम्हें पहचानने में है।

मगर पहचानने का अर्थ
यह तो नहीं
कि अपनी दीठ बिसरा कर
उसे ही मान बैठूं दृश्य
जो दिखता तुम्हें है।

तुम्हारी आँख से ही
देखने यदि लगूं
तो फिर
कौन देखेगा तुम्हें
जो
इतर हो तुमसे
तुम्हें पहचानता हो
प्यार करता हो।

पहचान

छोटे से
स्पर्श में
मैंने
तुम्हे जाना
सच वताओ
इस तरह जानने को
तुमने
कितना माना ?

सचमुच
वहुत विकट है
पहचान का
अनपहचाना
होते जाना।

संपूर्णता

जब उनचासवां पवन मेरी सांस में
      खोता जा रहा था
मैंने देखा अपनी आंख के
ठीक सामने
      लाल हो रहे सूरज को

सातों आसमान
      मेरे सीने में सिमट आए।
      दो उमड़ते हुए बादल
      छटपटाते रहे
      आसमानों से भिंचे।

झील में डूबते हुए
मैंने
      जंगलों का स्वाद
अपनी जीभ पर महसूस किया
वह खिलते हुए गुलाबों
      और अंधेरों के बीच
हर चीज में मौजूद था।

छटपटाते हुए बादलों के पीछे
एक रेलगाड़ी
लगातार तेज होती हुई
दौड़ती जा रही थी

अमृत कुंभ की खोज
लगातार जारी थी
मेरे दाँतों के बीच ।

महासागरों की सतह को
सहलाती हुई मेरी हथेली
महसूस कर रही थी
अतल से उठते तूफान ।

और तब अचानक
मैंने देखा
उस नन्हे से
सहमे हुए जलपाखी को
जिसे एक निर्द्वंन्द्व उडान के लिए
असीम आसमान चाहिए था ।

एक निरापद आसमान
जो मेरे भीतर
हमेशा से नीरव
उसकी प्रतीक्षा में था
और मैं
संपूर्ण होने की ।

नदी पर अंधेरा

आखिरी स्टीमर के
चलने का वक्त
अंधेरे के
नदी पर छाने का वक्त
होता है ।

एक संयत बेचैनी से भरी
नदी
कुछ उभर आती है
आसमान की ओर ।

आसमान
आधा नदी के भीतर
और आधा नदी के करीब
उसके बाहर होता है ।

उजाला
एक ललाए कोने में
सिमटता जाता है ।

सूरज
आधा नदी के छोर पर
डूबता है
और आधा
पुल के नीचे
नदी के भीतर ।

नदी पुल के करीब
आ जाती है
और अँधेरा
उसे छूने लगता है ।

नदी अचानक
अकूत गहरा जाती है
जब अँधेरा
नदी को छूता है ।

तटों पर दूर-दूर तक
जो जंगल
दिन भर गूंजते रहे थे
चुप खड़े हो जाते हैं
सिर झुकाए ।

आखिरी स्टीमर
धीमे-धीमे धड़कता हुआ
दूसरे घाट की ओर बढ़ता है ।
नदी और
अंधेरे के बीच में से
हटता हुआ ।

स्टीमर पर बैठे लोग
आँखें फैलाए
तटों को घूरते रहते हैं।

अंधेरे में डूबी नदी की
गहराती सांसें
उनकी पीठें सहलाती हैं।

स्टीमर से उतर कर
वे कहीं दूर चले जाते हैं
और अंधेरे से लिपटी नदी की ओर
मुड़कर नहीं देखते।

पंख और सपना

वह उठा लेता था
जमीन पर बिखरे पंख
और हर बार
बटोर लेता था
कुछ सपने ।

सपनों को
वह ढूंढ लेता था पंखों मे
और सपनों मे
वह उड़ सकता था
लेकिन
कोई नही समझता था
उसकी यह बात
कि वह पंखों को
उड़ने के लिए बटोरता है ।

पंखों को
वह किसी के साथ
नही बाँटता
क्योंकि एक बार
बहुत शान्त और खाली
देखकर आसमान को

उसने एक पंख
किसी दूसरे को दिया
और दूसरे ने
केवल/पंख ही लिया।

तब उसने
जान लिया कि
हाथों में पंख होने पर
चाहे मन में होता हो सपना
लेकिन
मन में पंख होने का मतलब
हाथों में सपना होना
कतई जरूरी नहीं है।

वह अक्सर
सहेजने लगता है
एक पुराने
नुचे हुए पंख को।

अकेले

उस पक्षी को देखकर
अनिष्ट की आशंका से सिहर कर
चीख उठे बच्चे
'वन फॉर सॉरो'
उस समय
हम दोनों अकेले थे ।
मैंने मन में किया था समझौता
कि जिस दिन बच्चे
खुश होकर कहेंगे
'टू फॉर जॉय'
मैं मुस्कुराऊँगा पक्षियों की खुशी में
और जब मैं नही रहूंगा अकेला
तब शरीक करूँगा उसे भी
अपनी खुशी में ।
और अगर हम दोनो
अकेले नही हुए
तो मानेंगे दुनिया को एक
और जोर से चिल्लाकर
'वन फॉर सॉरो'
उड़ जाएँगे
(मेरे पास भी पंख है)
उस आसमान के पार
जिसने हमें हमारे
अकेलेपन में
कैद कर रखा है ।

सहसा ठिठक कर

मेज

किसी भी शब्द से
शुरू की जा सकती है कविता।

जैसे कि अगर मैं
उदास होता हूँ
और लिखता हूँ—'मेज'
तो मेरी उदासी
तीन फिट लंबी
और ढाई फिट चौड़ी
एक ठोस शक्ल ले लेती है
जमीन से तीस इंच ऊपर

ऐसे में मैं
खिड़की को देखकर
लंबी सास खींचता हुआ
सोच सकता हूँ
कि मेरे हिस्से की सारी हवा
दूसरों के फेफड़ों में भर चुकी है।

उठकर जा सकता हूँ बाहर
और सीढ़ियों पर अकेले बैठकर
कह सकता हूँ कि
जिस गर्म रोशनी में हूँ
उसे तब तक 'धूप' कहना
गलत है, जब तक उसमें
दो लोग एक साथ न बैठे हों।

कोई भी वात तव
किसी भी चीज में
वदल सकती है
चीजों के नाम या
शव्दों के अर्थं आपस में
सारे के सारे वेमतलव होते हुए

क्योंकि कविता में
अगर मैं उदास होता हूँ
तो मेज के वारे में भी
वही वात कर सकता हूँ
जो धूप के वारे में
दोनो उतनी ही ठण्डी और
वेठोस होंगी वहाँ पर।

और वही वात
कर सकता हूँ जव
उदास न होकर
प्यार कर रहा होऊँ
तव वह वात
पूरी उष्मा के साथ
वादलों के वारे में
हो सकती है।

हर हाल में कविता
किसी भी शव्द से
शुरू की जा सकेगी
वह एक चुपचाप खड़ी
खाली 'मेज' भी हो सकता है।

नाटक

पर्दा उठा
मंच पर
आए अभिनेता
संवाद हुए
फिर
खत्म हो गया
नाटक।

लेकिन,
कोई पात्र
रह गया
मौन
ठिठका
अभिनेता के
भीतर ही।

संवादों के
बावजूद
कुछ रहा
अनकहा।

कितना कुछ
जो
हो सकता था
रंगमंच पर
बिना हुए
रह गया ।

वही
बस
उतना-सा ही
जुड़ा रहा
मन से
बाकी सब
भूला ।

शायद
वही
सत्य था ।

बाकी सब
जो हुआ—
सभी का देखा—
केवल
नाटक था ।

जयपुर 12-4 84

इसी जमीन में

इस घने जंगल में
एक वृक्ष मैं भी
अपने तने और शाखाओं के
खोखलेपन पर लज्जित
और अपने चारों तरफ दूर-दूर तक
खड़े सभी पेड़ों के तनों और शाखाओं के
खोखलेपन पर बेहद नाराज

इसी जमीन में हैं मेरी जड़ें
बहुत गहरी।
जो थामे है मुझे मिट्टी
मेरी है—यही।
यहाँ अचानक
नई कोंपलें फूटना बंद हो जाता है
मौसम के बावजूद।
कोई सामना नहीं करता
हवाओं का।
देता नहीं है सहारा किसी को।
और स्वीकृत है ढह जाना
कभी-भी बिना बात।

स्वीकृत है यह मान्यता कि
खोखले तनों को ढोना
नियति है इस मिट्टी की
और खोखला होना
इस पर जमे वृक्षों की।

इसके खिलाफ हूँ
पर इस मिट्टी में अपनी जड़ें
और अपने तने के
खोखलेपन के होते ही तो
अपने को पहचानता हूँ।

किसी अनजानी मिट्टी में
होता भरपूर ठोस जीवंत
सारे अंधड़ों को सहने की ताकत
और सहारा देने की क्षमता
अपने में लिए होता
तो क्या-तब भी
वह मैं ही होता ?

बरसात के बाद

धीमी बरसात के बाद
भीगी हुई हवा को
सूँघते हुए बच्चे की
आँखें चमक रही थी

फुटपाथ की
गीली, जमी हुई मिट्टी पर
माचिस की तीली से
टेढ़ी मेढ़ी लकीरें खींचते
और फुटपाथ के
एक बड़े हिस्से को
उन अर्थहीन आकृतियों से
भरा हुआ देखकर
वह बहुत खुश था ।

न जाने क्या कुछ
उस गीली मिट्टी पर
वह रच डालना चाहता था
उत्साह से उमगते हुए

मैंने तब चुपचाप रच लिया था
एक अनजान बच्चा
चमकती आँखें, छलकता उत्साह
और हल्की साफ मुस्कान को
बहुत दिनों से
सूनी और सूखी पड़ी
अपनी रेत पर
धीमी बरसात के बाद ।

बहुत दिन बाद

बहुत दिन बाद कभी
किसी और जगह
किन्हीं और लोगों के बीच

हममें से कोई
सहसा ठिठक कर
निमिष भर को चुप हो जाएगा

सामने आ जाएगी यह मेज
यूँ ही, और इसे घेरे
हम सबके चेहरे।

इस पर बिखरी
खुली बंद अधखुली किताबें
यह हंसी, उठी-झुकी निगाहें
और यकबयक
किसी का चुप हो जाना।
ये दीवारें, यही महक
इस कमरे की
अधजली सिगरेटें, ठंडक
सावन की दोपहर की
यह धीमी रोशनी।
और तब। हम सब,
वे तमाम बातें भी करेंगे
जिन्हें आज नहीं कर रहे
लेकिन जिनके लिए जिन्दा हैं।

दौड़ता हुआ आदमी

आसपास थमे
बातचीत या चुप्पी के
टुकड़ो की भीड़ मे
कुहनियों से ठेलकर
रास्ता बनाती हुई-सी
प्रवेश करती है
पैरों की थपथपाहट और
हल्के-हल्के हांफने की ध्वनि

और जब तक लोग
उसे पहचान कर
निगाहें वापस लौटाते है
वह दृश्य को चीरता हुआ
एक से दूसरे सिरे तक
दौड़ता हुआ निकल जाता है
सिर झुकाए।

एक आदमी
जो हर जगह
चुपचाप दौड़ता रहता है

और खुद भी
शायद जानता नहीं
कि वह क्यों लगातार दौड़ रहा है।

वह नहीं शामिल होता है
कहीं भी
सब कुछ बदस्तूर
चलता रहता है
अब लोग चौंकते भी नहीं
जब वह ऐन उनके बीच में से
दौड़ता हुआ गुजर जाता है।

वह हर जगह
दौड़ता रहता है सिर झुकाए
हर दृश्य में से गुजरता
हर रास्ते को
पैरों से दबाता
हमेशा चुपचाप।

उसे सब देखते हैं
और उसके बारे में
कुछ नहीं जानते
और न जाने क्यों
अब जानना चाहते भी नहीं।

इन सारी जगहों के बीच
जहां से वह जब-तब
दौड़ता हुआ गुजर जाता है।
बस एक जगह कहीं

किसी के पास
उसके बारे में
सारी जानकारी दर्ज है।

जब वह कहीं
किसी अनजानी जगह पर
ठिठक कर
अचानक रुक जाएगा
घड़ी भर सांस लेते हुए
अपने दौड़ने पर
कुछ सोचने के लिए
तब लोग
सब कुछ जान जाएँगे।

लौटना

धीमे-धीमे चुपचाप लगातार
शक्लें वदलती रहती हैं सड़कों की।

इतने चुपचाप कि
रोज उन पर से जाते हुए
कभी पता भी नहीं चलता।

झड़ जाते है पुराने पेड
पौधे, वड़े होते हुए
सड़कों पर वहुत दूर तक
छा जाते है
नए मकान वनते-वनते
वन जाते है चुपचाप
और पुरानों पर न जाने कव
नया रंग हो जाता है।
कच्चे फुटपाथ हो जाते है पक्के
और कीचड़ गायव होकर
जमीन के नीचे छुप जाता है
नालियों में।

फिर किसी दिन अचानक
ध्यान जाता है
सड़क की वदल चुकी शक्ल पर।

और तव
सड़क वहुत पीछे तक
लौटा ले जाती है।

हॉल में...

वैठा मैं
वहुत वड़े हॉल में, वहुत से लोग
जिसमें और भी
वैठे हैं।

अकेला एक ओर कोने में
देख रहा हूँ।
उन दर्जनों पंखों को जो
हॉल की लंवी चौड़ी छत से
घूमते हुए
टंगे हैं।

उनके नीचे इतने सारे लोग
अपने अपने कामों में व्यस्त
कहीं कोई दो चार
आपस में वतियाते भी।
पास की वंद खिड़की के धुधलाए
कांच में धुंधली-सी
प्रतिच्छवि मेरे चेहरे की
दिखी अचानक और
मैंने सोचा कि 'हां
इसका मतलव मैं यहां
सामने खिड़की के
इस हॉल में वैठा हूँ'
पर वह धुंधलापन
आशंका-सा है।

क्या सचमुच मैं कुछ
देख रहा हूँ
और जो देख रहा हूँ वह
क्या मैं ही हूँ।
फिर क्या पता वह छवि
कोई और ही हो
मैं नहीं।
तभी आई वह श्वेतवसना
परिचित चेहरा—
यानी यदि मैं भी परिचित हूं
उसका, तो वह
अभिवादन के प्रत्युत्तर से
निश्चित कर देगी यह सब
कि हूं मैं
यहां
इस
बहुत बड़े कमरे में जैसे
कई दर्जनों और अपरिचित
जिनको देख रहा हूं।
लेकिन
इतना उड़ता-सा
प्रत्युत्तर मिला मुझे
अभिवादन का कि
तय नहीं कर पाया
कि वह था भी
कि नहीं
यदि नहीं था
तो क्या मैं परिचित नहीं था

उस अति परिचित चेहरे का
या मैं
वहाँ नहीं था—
इकलौता जो निश्चित साक्ष्य
बचा है वह
ऊपर
चुपचाप घूमते पंखों का दल है
वह भी कुछ नही कहेगा
वह तो यंत्र मात्र है
और यहां
नीचे ?

जयपुर 11.9 84

परियाँ

दफ्तर से लौटकर
उमस भरे कमरे में अकेले
सिगरेट पीते हुए
आदमी को याद आई
वचपन में सुनी
कहानियों-परियों की ।

'इक्कीसवी सदी में
परियां नहीं हो सकतीं'
(उसने सोचा)
'फिर क्या होगा
जिसके वारे में वच्चे
वड़े होकर अकेले में सोचेंगे ?'

'इक्कीसवीं सदी में शायद
वड़े होकर वच्चे
वचपन को
सचमुच छोड़ देंगे
अकेले भी होंगे
तो जी लेंगे
परियों के वारे में सोचे विना'

'लेकिन जव वच्चे
उन्हें जानेंगे ही नहीं
तव वेचारी परियां
कहाँ रहेंगी ?

आँगन में पड़ी खटिया

आंगन में पड़ी रहती थी
एक खटिया
मेरे वचपन में।

आँगन में पड़ी खटिया पर
सर्दियों में दोपहर को
वावा वैठकर काटते थे नाखून
अखवार पढते थे।

नहाने से पहले चाचा
आकर वैठ जाते थे
गुसलखाना खाली होने के
इंतजार में।

पिताजी दफ्तर से लौटकर
वहीं वैठते थे
चाय पीते थे
और जो कुछ भी वताते
सव जमा होकर सुनते।

घर भर में धमाचौकड़ी मचाते
हम वच्चे कभी-कभी
थक कर वैठ जाते थे आंगन में
पड़ी खटिया पर हाफते
और सांस में सास आते ही
फिर भाग खड़े होते।

गर्मियों में शाम को
अम्मा लेटती थीं
आगन में खटिया पर पंखा डुलातीं
मां और चाची चौके में से
हमें भेज देती थी अम्मा के पास
उसी चारपाई पर हम भी
सिमट आते थे।
और अम्मा बताती थीं
कि कैसे वासुदेव के लिए
खुल गए थे जेल के ताले
कैसे गोरधन उठा लिया था
कृष्ण ने उंगली पर,
मार दिया था हजार फन वाला
कालिया नाग,
हनुमान जी ने चीर दिया था
अपना हृदय और
रावण में कितनी ताकत थी,
उसे कैसे मारा रामचंद्रजी ने।

एक दिन
अम्मा मर गई।

सब रोए,
पिताजी, चाचा, चाची, मां
बुआ, हम सब बच्चे,
साल भर का मेरा छोटा भाई
फिर बड़े लोग सारे मुहल्ले के, घर के
ले गए अम्मा को उठाकर
चाचा ने आँगन में पड़ी खटिया

एक कोने में खड़ी कर दी,
वावा ने छोड़ दिया
आंगन में वैठना ।
अव वे छत पर या
वाहर वरामदे में धूप
सेंकने लगे ।
हम सव लोग
वड़े होते गए ।
कई वरस वीते ।

सव भूल से गए
कि आंगन में पड़ी थी एक खटिया
वड़े लोग लगे रहे अपने-अपने
काम धंधे में ।

और अव
वच्चे भी खाली वक्त में
करते है स्कूल का होमवर्क

इस वात से कतई अनजान
कि पूजा
इन्द्र की होती है
या गोवर्धन पर्वत की ।

जयपुर 5 9 86



संजीव मिश्र

9 फरवरी 1961 को जन्म।
स्कूल से लेकर हिन्दी में एम. ए. तक की शिक्षा जयपुर में। लिखना स्कूल के दिनों में और छपना कॉलेज के दिनों में शुरू हुआ।

कविताओं के अलावा कहानियां, व्यंग्य, फिल्म समीक्षाएँ पुस्तक समीक्षाएँ तथा विभिन्न विषयों पर लेख व फीचर अनेक पत्र-पत्रिकाओं में छपते रहे हैं।

साहित्य के साथ-साथ दर्शन, सौंदर्य शास्त्र, संस्कृति, सिनेमा, रंगमंच, चित्रकला, फोटोग्राफी, विज्ञान कथाओं जासूसी कहानियों, कॉमिक स्ट्रिप्स और वर्ग पहेलियों में लगातार रुचि।

व्यवसाय से पत्रकार। इन दिनों दैनिक 'नवभारत टाइम्स' के जयपुर संस्करण के संपादकीय विभाग में।

कवि का रेखाचित्र तथा आवरण आरती साहू ने तैयार किया है। चित्रकला, रंगमंच, सिनेमा, लोक संस्कृति एवं सौंदर्य शास्त्र में सक्रिय रुचि रखने वाली आरती साहू जयपुर के कानोडिया कॉलेज में अंग्रेजी साहित्य की व्याख्याता हैं।